Impact Factor-5.707 ISSN-2349-638x

85

# Aayushi International Interdisciplinary Research Journal (AIIRJ)

PEER REVIEWED & INDEXED JOURNAL

February- 2019

**Executive Editor**

**Dr. S. M. Maner**

Principal

Tuljabhavani Mahavidyalaya, Tuljapur,

Dist. Osmanabad (M. S.) India

**Chief Editor**

**Pramod P. Tandale**

**Co-Editor**

**Prof. V. H. Chavan** — Dept. of Hindi

**Maj. Dr. Y. A. Doke** — Head, Dept. of English

Tuljabhavani Mahavidyalaya, Tuljapur, Dist. Osmanabad (M. S.) India

**Impact Factor**

**SJIF 5.707**

For details Visit to:

www.aiirjournal.com

| Sr.No. | Author Name | Title of Article / Research Paper | Page No. |
|---|---|---|---|
| 42. | डॉ उत्तम राजाराम आळतेकर | संवेदना का सरोकार कराती इक्कीसवीं सदी की हिंदी कविता | 108 |
| 43. | प्रा. सूर्यकांत रामचंद्र चव्हाण | बाज़ारवाद की चुनौतियों पर चिंतन करती हिंदी लघुकथा | 112 |
| 44. | डॉ.विठ्ठल शंकर नाईक<br>प्रा.सुषमा प्रफुल्ल नामे | हिंदी उपन्यासों में किन्नर विमर्श | 116 |
| 45. | प्रा.डॉ.प्रवीण कांबळे | लघुकथाओं में चित्रित नेताओं की चरित्र-हीनता | 119 |
| 46. | डॉ. सुनिता रामभाऊ हजारे | शिवानी की कहानी 'करिए छिमा' के सन्दर्भ में | 120 |
| 47. | प्रा. डॉ. संतोष विजय येरावार | आदिवासीयों की करुण गाथा – 'अल्मा कबूतरी' | 121 |
| 48. | अभिनव कुमार | हुल पहड़िया: पहाड़िया आदिवासियों के चिरकालीन स्वाधीन चेतना की साहित्यिक अभिव्यक्ति | 123 |
| 49. | प्रा. जे. बी. जाधव | मोहनदास नैमिशराय का उपन्यास,'ज़ख़्म हमारे में' दलित विमर्श | 125 |
| 50. | प्रा. व्यंकट अमृतराव खंदकुरे | 21 वे सदी के हिंदी गद्य साहित्य में बाजारवाद विमर्श | 128 |
| 51. | लक्ष्मी किसनराव मनशेट्टी | दलित जीवन की दर्दनाक दास्तान – मुक्तिपर्व | 130 |
| 52. | प्रा.प्रतापसिंग राजपूत | 21 वीं सदी के उपन्यास में चित्रित किसान जीवन | 133 |
| 53. | डॉ. मंत्री रामधन आडे | 21 वीं सदी का हिन्दी गदय साहित्य और स्त्री विमर्श | 135 |
| 54. | डॉ. विनय सु.चौधरी | 21 वीं सदी के हिंदी कथा साहित्य में दलित विमर्श | 138 |
| 55. | प्रा. संतोष तुकारारम बंडगर | 'डबल इनकम नो किड्स': महानगरीय नारी की बदलती पारिवारिक प्रवृत्तियाँ | 140 |
| 56. | प्रा. सुधाकर इंडी | रमणिका गुप्ता के उपन्यासों में आदिवासी स्त्री विमर्श | 142 |
| 57. | प्रा. विश्वनाथ भालचंद्र सुतार | हिंदी कविता में नारी लेखन के विविध स्वर | 145 |
| 58. | प्रा.डॉ.संभाजी रामू निकम | आधुनिक परिवेश में नौकरीपेशा स्त्री के प्रति देहवादी दृष्टिकोण :'कुत्ते' नाटक के संदर्भ में | 147 |
| 59. | किरण सोपान सोनवलकर | स्त्री विमर्श का नया कोण : कस्बाई सिमोन | 149 |
| 60. | संगिता तुकाराम सरवदे | नारी अंतर्मन को झकझोरती रचनाकार- कृष्णा अग्निहोत्री 'मैं अपराधी हूँ' के विशेष संदर्भमें | 151 |
| 61. | सचिन मधूकर गुंड | 'स्त्री जीवन का यथार्थ' :- 'मुन्नी मोबाईल' | 153 |

# बाज़ारवाद की चुनौतियों पर चिंतन करती हिंदी लघुकथा

**प्रा. सूर्यकांत रामचंद्र चव्हाण**
हिंदी विभाग
राजर्षि शाहू महाविद्यालय (स्वायत्त), लातूर

*"वह सब को मनचाहा खरीदने की*
*शक्ति तो नहीं देता*
*पर मुक्ति देता है -*
*भूख और कर्ज से त्रस्त जनों को आत्महत्या की*
*आदमी को कुत्तों की तरह झगड़ने-निपटने की*
*चूहों और घोड़ों की तरह दौड़ने या दोड़ाए जाने की*
*औरत को अपनी देह और बच्चे बेचने की*
*खा-पीकर अघाए अश्लील बलशालियों को*
*हत्या और पर-पीड़न की*
*महँगे कपड़े खरीदने के लिए*
*तन के कपड़े उतारने की प्रतिद्वंद्विता की*
*क्योंकि प्रतिद्वंद्विता और मुक्ति के नियम पर ही तो*
*चलता है बाज़ार।"*[1]

**- कुलजीत सिंह**

प्रस्तुत कुलजीत सिंह के 'बाज़ार जानता है' कविता की ये पंक्तियाँ इक्कीसवीं सदी के उस बाज़ार से रूबरू कराती हैं जो भूमंडलीकरण से प्रभावित है। जो मात्र बेचना जानता है। उसने जान लिया है कि सबकुछ बेचा जा सकता है। वह जान गया है कि दुनिया बाज़ार के जादुई जाल में फँसती-धँसती जा रही है। लगातार धन कमाने की लालसा से दौड़ता इक्कीसवीं सदी का मनुष्य आज ब्रांडेड कल्चर और विज्ञापन के मायाजाल में डिजीटल संचार क्रांति के माध्यम से दुनिया को अपनी मुट्ठी में कैद कर देना चाहता है। जिसके कारण वह चाँद, मंगल पर तो पहुँच रहा है किंतु अपनों से ही दिन-ब-दिन कटता नजर आ रहा है।

आज का बाज़ार 'कबिरा खड़ा बाज़ार' वाला बाज़ार नहीं है। बाज़ार तो पहले भी था। वैसे तो बाज़ार और गाँव का बड़ा आत्मीय संबंध रहा करता था। हम हमारी जरूरतों की पूर्ति के लिए बाज़ार जाया करते थें, जो घर को घर बनाये रखती थीं। वे सभी आवश्यकताएँ गाँव के जिंदगी की कोख से पैदा होती थीं। किंतु आज बाज़ार आपके घर आ गया है। वह स्वयं ही हमारी आवश्यकताएँ ढूँढ़ता है और उन्हें हम पर लादता है। पुराना बाज़ार उपभोक्ता को गाँव से उखाड़कर शहर में लाया करता था लेकिन नया बाज़ार उसे शहर से भूमंडल में फेंक रहा है। आज मंडी का संबंध व्यापार और स्पर्धा से है। मुनाफ़े की दौड़ में सबको कंज्यूमर कल्चर पसंद है। पैसे की धुरी पर चलती दुनिया में भावनाएँ, संबंध, मूल्य, मानवता सब अप्रासंगिक है। सड़क, पुल, रेल, बांध, कारखाना, इंटरनेट आदि 'आधुनिक' देश की रक्त धमनियाँ और हड्डियाँ बन गई हैं। यह बाज़ार देखता, तौलता, मापता, ठोंकता-बजाता, सूँघता और नमुने लेने पर विश्वास रखता है। जो भारत 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परिकल्पना में विश्वास रखता है वह भारत आज दुनिया के लए सबसे बड़ा बाज़ार बन गया है। हमारे पूर्वजों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में जो उदार भावना के साथ 'विश्वात्मा' की परिकल्पना की थी आज वह वैश्वीकरण में नहीं दिखाई देती है। यह वह शुद्ध बाज़ारवाद है जो केवल प्रतिस्पर्धा के जरिए मुनाफ़ा कमाना चाहता है। वह संपूर्ण वसुधा को ही मुट्ठी में कैद करना चाहता है। बाज़ारवाद की इस नई डिजीटल सूचना क्रांति ने रिश्तों में कैसी दरारें पैदा कर दी है उसे राहुल देव अपनी कविता 'रिश्ते' में बयां करते हैं-

***"पहले रिश्ते थे लैंडलाईन फोन की तरह***
***दिल से दिल के तार जुड़े रहते थे***
***फिर रिश्ते हो गए पी.सी.ओ की तरह***
***सिक्के डालो, तो बात होती थी***
***अब रिश्ते हो गए हैं,***
***मोबाइल फोन की तरह***
***फूँको रिश्ते भट्ठी में,***
***कर लो दुनिया मुट्ठी में।"***[2]

वैश्वीकरण के चपेट में फँसे मनुष्य की सोच और सपने को भी इस स्वार्थ केंद्रीत बाज़ार ने घेर कर ढेर कर दिया है। कविता जैसे परिवेश की विड़बना और विसंगतियों पर संकेत करती है वैसे ही लघुकथाएँ संकेतात्मक दृष्टि से अनकही बात कह जाती हैं। कम शब्दों में, कम स्पष्टीकरण में जीवन के उन बारीक किंतु विराट सत्य को सहजता से उकेरना ही लघुकथा की कलात्मकता है। बाज़ारवाद से जहाँ हर क्षेत्र प्रभावित हो रहा हो वहाँ साहित्य में लघुकथा कैसे अछूती रह सकती है? लघुकथा भी बाज़ारवाद के प्रभाव से सामाजिक जीवन की विभिन्न चुनौतियों पर अपना चिंतन व्यक्त करती है। विज्ञापनों के मायाजाल में फँसा आदमी आपने उम्र अर्थात् जीवन के समय को स्वीकार करने के बजाय विभिन्न सौंदर्य प्रसाधनों के माध्यम से अपनी आयु को ढँकना चाहता है। सूर्यकांत नागर की



1

लघुकथा 'बाज़ार' इसी विषयी की ओर संकेत करती है। युवा होती बेटी को अपनी माँ के सफेद होते बाल और गले पर उभरती झुर्रियाँ अच्छी नहीं लगती। क्योंकि उसकी सहेलियों की माँ बेहद सुंदर और कम उम्र की दिखाई देती थीं। अपनी माँ का बदलता रूप बेटी को अच्छा नहीं लगता था। इसलिए विभिन्न सौंदर्यप्रसाधनों के माध्यम से बड़ी बेटी ने माँ को सुंदर और आकर्षक बना दिया। जिसपर उन्हें गर्व होने लगा था। लेकिन माँ इस बाज़ार की कृत्रिम सौंदर्य से वाकिफ़ है। वह अपनी उम्र की सच्चाई को ढँकना नहीं चाहती। अपनी बेटी को ठंडी आह भरकर कहती है- "बेटी, अब मैं माँ कहाँ रही? मैं तो बाज़ार बन गई हूँ।"[3] आजकल ऐसी माँ बहुत कम मिलती है। जो नकाब को पहनना नहीं चाहती। आजकल तो अधिकतर माँ बाज़ारवाद की चपेट में आ चुकी हैं।

आज डिजीटल जनसंचार माध्यमों के कारण वैश्वीकरण में दुनिया बेहद नजदीक आ गई। कुछ क्षणों में ही इन जनसंचार माध्यमों के माध्यम से हम अपने विचारों को संप्रेषित कर सकते हैं। किंतु विड़ंबना यह है कि भूमंडलीकरण में मनुष्य मशीनों को नहीं बल्कि मशीनें मनुष्यों का इस्तेमाल करने लगी हैं। व्हाट्सऐप, फेसबुक, मोबाईल आदि में व्यक्ति इतना उलझ गया है कि संवेदना और रिश्तों को भी इसी ऐनक से देखने लगा है। मनुष्य 'ऑफलाइन' कम और 'ऑनलाइन' में अधिक व्यस्त हैं। मोबाइल के बढ़ते प्रभाव से रिश्तों में कैसे दरारें पैदा होती है, इस और आज की हिंदी लघुकथाएँ संकेत करती हैं। ज्ञानदेव मुकेश की लघुकथा 'ऑनलाइन बेटा' भी इसी सच्चाई से परिचित कराती है। बूढ़े दंपती को विदेश में रह रहे बेटे ने मिलकर दो साल से उपर हो गये थे। जिसका मलाल दोनों को भी रहा। इसलिए बेटे ने सरप्राइज देकर इसकी क्षतिपूर्ति ऑनलाइन मिलने के रूप में की। बेटे ने इसके लिए विदेश बैठे-बैठे ऑनलाइन चैटिंग की, बूढे माता-पिता को ड्राइविंग करायी, बड़े से होटल में ऑनलाइन खाना भी खिलाया। किंतु घर आते ही दोनों दंपती को पुनः वही अकेलापन महसूस होने लगा। बेटे के सानिध्य को एकमात्र सरप्राइज समझनेवाले पिता ने यह अकेलेपन की टीस बेटे को फोन पर बात करते हुए निकाल दी और फोन पर बेटे को हा कि, "मेरे ऑनलाइन बेटा, मुझे भी सब कुछ बड़ा अच्छा लगा। मगर बेटा, दिल नहीं भरा। मेरी विनती है, कभी ऑफलाइन भी जरूर होना।"[4]

आजकल व्हाट्सऐप ओर फेसबुक का इतना बोलबाला है कि अगर कोई व्यक्ति इसका प्रयोग नहीं करता तो वह अनपढ़, गंवार समझा जाता है। एक ही घर में रहनेवाले पारिवारिक सदस्य घंटों व्हाट्सऐप पर लगे रहते हैं। इतने सटे होने के बावजूद भी एक-दूसरे से कटे-कटे नजर आते हैं। गजेंद्र नामदेव की लघुकथा 'क्या ऐप है' यह इसी संवेदनहीनता ओर रिश्तों में पड़ती दरारों की ओर संकेत करती है। दोनों मित्र लंगोटिया यार हैं, जो एक ही शहर में होने के बावजूद कभी मिल नहीं पाये। इसलिए एक मित्र दूसरे मित्र के घर मिलने के लिए जाता है। उसे लगता है कि मिलकर नई-पुरानी यादें ताजा करेंगे, बड़ी गपशप करेंगे। किंतु अचानक मित्र घर आते ही दूसरा मित्र चौंक जाता है। इतने दिनों के पश्चात् कोई मित्र, कोई अतिथि घर आने के बावजूद भी इनमें कोई मिलने की आस या दिलचस्पी नहीं दिखाई देती। मित्र घर पर आने के बावजूद भी उसकी मोबाइल में उँगलियाँ व्यस्त रहती हैं। मित्र को जब वहाँ अधिक समय तक बैठने का भारीपन महसूस होने लगा तो वे उठकर जाने लगे। तब उनके लंगोटिया यार ने कहा कि, "एक-आध-सा व्हाट्सअप ले ले यार। अ... मेरा मतलब मोबाइल। इससे सभी से एक साथ जुड़े रह सकते हैं हरदम।"[5] मित्र को बुरा लगता है। आज रिश्तें भी औपचारिकता ही रह गये हैं। भारी कदमों से बाहर निकलते समय मित्र ने सोचा, "जो कोसों दूर हैं उनसे जुड़ाव की बातें हो रही हैं और जो सामने सशरीर साक्षात् बैठा है उसकी कोई कीमत नहीं। क्या तकनीक है। वाह 'क्या ऐप' है।"[6] आज इस बाज़ारवाद में रिश्तें दिलों में जिंदा नहीं बल्कि मोबाइल में सिमट गये हैं।

प्रौद्योगिकी और सूचना क्रांति ने मनुष्य के जीवन पर बहुत प्रभाव डाला है। इस तकनीकी क्रांति ने समाज जीवन को झकझोर डाला है। सोशल मीडिया के कारण आदमी-आदमी के बीच का दायरा कम हो गया। मनुष्य तकनीक के माध्यम से जितना नजदीक आया उतनाही अधिक फासला दिलों के बीच बढ़ता गया है। इसी विषय को मार्टिन जॉन की 'फासला बरकरार है' यह लघुकथा उकेरती है। एब्रोड में रहनेवाले मिस्टर लोबो और उनकी पत्नी अपने बेटे और बहू से स्काइप पर बातचीत कर लेने पर तकनीकी रेव्यूलेशनरी प्रोग्रेस पर बहस करते हैं। तकनीक के कारण दुनिया मुट्ठी में सिमट जाने से उन्हें विश्वास होने लगता है। दोनों पति-पत्नी जहाँ सोशल मीडिया से फासले कम होने और पहचान का दायरा बढ़ने से वे एक-दूसरे का समर्थन करते हैं। लेकिन उन्हीं बिल्डिंग में तीसरी मंजिल पर रह रहे श्रीवास्तव की उन्हें पहचान नहीं है, जो पिछले पाँच साल से रह रहे हैं। हद यह हो गई कि श्रीवास्तव जी की मम्मी गुजरने से भीड़ इकट्ठा होने के बावजूद भी इन्हें पता नहीं चलता। जो मिस्टर लोबो शुरूआत में अपनी पत्नी से बातचीत करते हुए कहते हैं- "और फासले भी कम हो गए हैं। पहचान का दायरा भी कितना बढ़ गया है सोशल मीडिया से।"[7] वे ही मिस्टर लोबो अपनी ही बिल्डिंग में रहनेवाले श्रीवास्तव जी के माँ की मृत्यु होने पर भी उन्हें न मालूम होने से अफसोस के अतिरेक से कहते हैं- "डिस्टेंस इज स्टील रिमेनिंग... !"[8] संचार क्रांति से दुनिया तो मुट्ठी में कैद हो गई लेकिन अपने ही मुट्ठी से रेत की तरह झरते नजर आ रहे हैं।

आज बाज़ार चमक-दमक में विश्वास रखता है। कल के बजाय 'आज' के जीने में विश्वास रखनेवाला आज का मनुष्य कम समय में सबकुछ पाने की जिद में लगा है। लगातार पाने की लालसा ने मनुष्य को दौड़ना और दौड़ना ही सिखाया है। इसलिए वह भरपेट खाने की बजाय पिज्जा, पेस्ट्री, समोसे को ही भोजन मान बैठा है। इसलिए 'रोटी' के बजाय इन जंकफूड का बाज़ार आज सभी को भाता नजर आ रहा है। लेकिन भूख का शमन तो भरपेट खाने से ही होता है। इसी विषय की ओर ज्ञानदेव मुकेश की लघुकथा 'हम रोटी वाले' संकेत करती नजर आती है। रेलवे प्लेटफॉर्म पर पिज्जा, बर्गर बेचनेवाली के दुकान पर खाद्यपदार्थों बड़ी धड़ाधड बिक्री हो रही थी। इसी समय कंधों पर झोला लटकाये दो लड़के रोटी बचे रहे थे। रोटी-सब्जी की बूरी रट सुनकर दुकान पर खड़े लोगों को बुरा लगा। ऐसे समय जंकफूड की दुकान पर काम करनेवाले एक लड़के ने इन रोटी बेचनेवाले लड़को को भगा दिया। लेकिन रात के दस

बजे जंकफूड की दुकान बंद होने पर दुकान पर काम करनेवाला लड़का बेचैनी से उन रोटी बेचनेवाले लड़कों को ढूँढ़ते रहता है। एक सीढ़ी के नीचे बैठे रोटी-सब्जीवालों को देखकर रोटी मांगने लगता है। इस बात पर रोटी-सब्जीवालों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा कि तुम्हारी पेस्ट्री-बर्गर की दुकान होने पर भी रोटी क्यों माँगते हो? ऐसा पूछने पर उस कामवाले लड़के ने कहा- "एक रोटी-सब्जी मुझे भी दे देना। बड़ी भूख लगी है।"[9] इससे यह प्रतीत होता है कि 'शॉर्ट बट स्वीट' के बाज़ारवादी जमाने में भी भूख का शमन तो रोटी से ही होता है। लेकिन बिड़ंबना यह है कि हम रोटी-सब्जी के बजाये पिज्जा-बर्गर खाकर धन्यता मानते हुए झूठी और खोखली प्रतिष्ठा बनाने कोशिश करते हैं, जो शरीर के लिए विघातक है।

बाज़ारवाद की संस्कृति 'यूज़ एण्ड थ्रो' पर निर्भर है। मशीनीकरण के दौर में मशीनों का इस्तेमाल करनेवाला मनुष्य इक्कीसवीं सदी में मनुष्यों का भी इस्तेमाल करने लगा है। फिर चाहे वह अपना हो या पराया। सुदेश प्रभाकर की लघुकथा 'इस्तेमाल' भी इसी विषय पर संकेत करती है। कहानी में पति महोदय अपनी पत्नी से सामनेवाले किरायेदार के यहाँ अपनी ही भाभी का इस्तेमाल कर रहे देवर पर छि-थू करते हुए रिश्तों में हो रहे इस्तेमाल पर नाराजगी जताते हैं। माँ बाप, भाई, बहन, पत्नी, बेटा, प्रेमिका आदि सभी एक दूसरे का समय-समय पर इस्तेमाल करने पर अफसोस जताते हैं। लेकिन दोनों जब सिनेमा देखने सिनेमाघर में पहुँचते है तो टिकट के लिए बड़ी लंबी कतार है। तब पति अपनी पत्नी का इस्तेमाल करते हुए कहता है, "तुम जरा मैनेजर से रिक्वेस्ट करके देखो, शायद दे ही दे।"[10] जब पत्नी मना करती है तब समझाते हुए कहता है, "ओह डियर, कुछ समझा भी करो। जाओ, जल्दी जाओ, शो शुरू होनेवाला है।"[11] पत्नी मैनेजर के कमरे से टिकट लेकर जब वापिस आती है तो पति महोदय चहककर कहते हैं, "देखा न, मैंने कहा था न।"[12] पुनः दोनों रिश्तों के हो रहे इस्तेमाल और आदमी के गिरते स्तर पर चिंताएँ व्यक्त करते सिनिमा हॉल में चले जाते हैं। अर्थात् जो दूसरों के यहाँ रिश्तों में किये जा रहे इस्तेमाल पर चिंता जतानेवाला पति स्वयं अपनी पत्नी का भी इस्तेमाल करने पर उसे कोई अफसोस नहीं है। यही है इक्कीसवीं सदी में बाज़ारवाद की देन।

भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के चपेट में फँसा पढ़ा-लिखा नौकरशुदा युवक भी आजकल अपनी गाँव की जड़ और जमीन से कटता नजर आ रहा है। वह अब शहरों में अपनी अतृप्तियों को तलाश रहा है। रामनिवास 'मानव' की लघुकथा 'कसक' में भी ऐसा ही युवक है। जो शहर में सिंचाई-विभाग में तनखाह के अलावा मोटी इंकम कमाता है। उसकी सारी कमाई पत्नी के खान-पान और सिंगार जैसे ऐषोराम में व्यय हो जाती है। गाँव से कटने के बाद गरीब के घर पैदा होने के प्रतिशोध के पहले शिकार उसके माँ-बाप ही होते हैं। वह उन्हें ही जिम्मेदार मानता है। शहर जाने पर माँ-बाप के गरीबी से उसे कोई वास्ता नहीं रहा। कभी कभार घर आया तो भी वह अपनी पत्नी को साथ नहीं लाता। एक बार अपनी पत्नी को वह रास्ते में अपने ससुराल छोडकर घंटे भर के लिए गाँव आकर वापिस निकलता है तब माता-पिता बहु को भी साथ लाने को कहते हैं। तब वह तुरंत निकलने के लिए नीलम अर्थात् पत्नी अकेली डरेगी का बहाना बनाकर निकलता है। और जाते समय कहता है- "वो तो ठीक है काका! पर गांव में छह बीघा ऊसर जमीन, कच्चे पुश्तैनी मकान और तुम्हारे सिवाय है ही क्या, जिसके लिए आना हो।"[13] पिताजी 'तेरी मरजी बेट्टा' कहकर श्रीमान बेटे को विदा करते हैं। देर रात तक उन्हें नींद भी नहीं आती। वे सोचते रहते है कि, "बेटे के लिए उनका महत्व ऊसर जमीन और कच्चे मकान जितना भी है या नहीं।"[14] बाज़ारवाद के प्रभाव में युवकों में लगातार पाने की लालसा ने रिश्तों में दरारें पैदा कर दी। जिन्होंने हमें जन्म दिया उन्हीं के प्रति हम इतने असंवेदनशील कैसे बन सकते हैं? लड़का छह बीघा जमीन और पुश्तैनी मकान के साथ अपने माता-पिता की तुलना करता है। जो कोई वस्तु नहीं बल्कि जीता-जागता इन्सान है, जिन्होंने उसे अपने कोख से पैदा किया है। बाज़ारवाद स्वार्थ ही जानता है चाहे वह अपना हो या पराया।

www.aiirjournal.com

ऐसी ही एक और रमाकांत श्रीवास्तव की लघुकथा है 'आत्म स्वीकृति'। शहर में रात्रिकालीन क्रिकेट खेलने और 'लिव इन रिलेशनशिप' की शुरूआत होने मात्र से शहर 'बड़ा' हो जाने का परिचय सभी लोगों को हो जाता है। शहर में स्वीमिंग पूल पर हीरोइन ने बिकनी पहनकर डांस किया तो शहर के उद्योगपति के बेटे का दिल उसपर आ गया। यह हीरोइन बॉलिवूड की नायिकाओं की तरह और बोल्ड होना चाहती थी। जब टी.वी. चैनल पर इंटरव्यू में पिछले बॉयफ्रेंड का ब्रेकअप हो जाने का बताती हैं तो उद्योगपति के बेटे को अर्थात् नये बॉयफ्रेंड के मन में उसके प्रति सेक्स अपील और भी फनफना जाता है। उसे ऐसे ही अनुभव हुआ जैसे खेत को हथियाते समय जमींदार और जमीन पर कब्जा करते समय बिल्डर को होता है। रात्रिकालीन क्रिकेट टूर्नामेंट में हीरोइन के पुराने और नये दोनों बॉयफ्रेंड की संयोग से भेंट होती हैं। पूर्वी प्रेमी नये प्रेमी से कहा, "देखो, वह बहुत अच्छी लड़की है। पार्टनर को आनंद कैसे दिया जाता है, इसे वह जानती है।... देखो दोस्त, उसे कभी कोई दुख नहीं देना।"[15] इसपर वर्तमान बॉयफ्रेंड ने सहमति जतायी। दूसरे ने जब पूछा कि तुमने इसे क्यों छोड़ा, तब पूर्व प्रेमी ने कहा, "एडवेंचर, मेरे यार एडवेंचर। नयेपन के लिए आकर्षण। मुझे विश्वास है कि तुम मेरी मजबूरी समझ रहे होंगे।"[16] इसपर वर्तमान बॉयफ्रेंड बड़ी उदारतापूर्वक कहता है, "हाँ-हाँ मैं समझता हूँ। मोनोटनी आदमी को किस कदर परेशान करती है। मुझे मालूम है। वह जब चाहेगी मैं उसे छोड़ दूँगा।"[17] यह है आज के बाज़ारू समझौतावादी रिश्ते। न कोई प्रेम, अपनापन या हमदर्दी। मात्र आकर्षण, इस्तेमाल करना और जब चाहे छोड़ देना। यही है रिश्तों में बाज़ारवाद।

बाज़ारवाद का प्रभाव सृजनात्मक धरातल और संवेदना के स्तर पर भी होने लगा है। आजकल विभिन्न विमर्शों का जरिया बनते हुए साहित्य का सृजन व्यक्ति के बेडरूम तक पहुँच गया है। प्रसिद्धि पाने की लालासा ने प्रणय और अश्लिल प्रसंगों को भड़किले बनाना आज साहित्यकारों के लिए आम बात हो गई है। रचना में रचनाकार ऐसा बिंब तैयार करता है मानो पाठक कोई कहानी या उपन्यास नहीं पढ़ रहा बल्कि कोई अश्लिल फिल्म देख रहा है। इसी भड़किले और रंगीन सृजनधर्मी साहित्यकारों की पोल खोलती है

उग्रनाथ नागरिक की लघुकथा 'साक्षात्कार'। कहानी में स्त्री-विमर्श पर लिखे उपन्यास पर लेखिका की बड़ी चर्चा होती है। लेकिन आलोचकों ने उस उपन्यास को कभी क्रांतिकारी, कभी 'वेश्या की डायरी' तो कभी 'बिस्तर बदलने की कथा' के रूप में आलोचना की। इसपर लेखिका को जब प्रतिक्रिया पूछी गई तो वह कहती है- "देखिए, जो बातें मैंने उठाई है वे औरतों की अत्यंत गंभीर और वास्तविक समस्याएँ है... इसलिए उनमें कुछ कठोर और अप्रिय सच्चाइयों और निस्संकोच खुलेपन का आ जाना स्वाभाविक है। तथापि यदि किसी एक भी पाठक को मेरी मंशा गलत संप्रेषित हुई तो मैं अगली किताबों में इस बात का ध्यान रखुंगी कि वीभत्स स्थितियों को किस प्रकार पाठकों के बीच ग्राह्य बना सकूं।"[18] ये ऐसे लार टपकानेवाले और चबाये जानेवाले विषयों को ग्राह्य बनाना और उपभोक्ता अर्थात् पाठकों को परोसना यही बाज़ारवाद की देन ही। 'तम् वेदना' के बजाय आज जिसे चाव से देखा और पढ़ा जाता है उसे ही बाज़ार में कीमत होती है। चाहे वह वस्तु हो, साहित्य हो या संवेदना हो।

लेकिन फिर भी हमें उम्मीदों को कायम बनाय रखना होगा। भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद जैसी 'समाज' अवधारणा को ध्वस्त करनेवाली संकल्पनाओं से हमें उभरना होगा। तभी ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परिकल्पना पूर्ण होगी। इस पर हमें विश्वास बनाये रखना पड़ेगा। निर्मला पुतुल के शब्दों में-

*"और इस अविश्वास भरे दौर में*
*थोड़ा-सा विश्वास*
*थोड़ी सी उम्मीद*
*थोड़े से सपने*
*आओ, मिलकर बचाएँ*
*कि इस दौर में भी बनाने को*
*बहुत कुछ बचा है,*
*अब भी हमारे पास।"*[19]

**संदर्भ ग्रंथ :**


1) समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक), जुलाई-अगस्त 2011, पृ. 189-190.
2) आलोचना (कविता – 1- सहस्त्राब्दी अंक) - संपा. नामवरसिंह, अक्टूबर-दिसंबर, 2015, पृ. 112.
3) समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक) – जुलाई-अगस्त 2011, पृ. 137.
4) हंस-संपा. संजय सहाय, अक्षर प्र. नयी दिल्ली, जनवरी 2019, पृ. 88.
5) वही, मार्च 2018, पृ. 81.
6) वही
7) वही, मई 2018, पृ. 90.
8) वही
9) हंस-संपा राजेंद्र यादव, अक्षर प्र. नयी दिल्ली, अप्रैल 2011, पृ. 41.
10) लघु कथाएँ - सुदेश प्रभाकर , खुराना एण्ड सन्स प्र. दिल्ली, सं. 2010, पृ. 81.
11) वही
12) वही
13) हंस-संपा. राजेंद्र यादव, अक्षर प्र. नयी दिल्ली, मई 2011, पृ. 47.
14) वही
15) वही, नवंबर 2011, पृ. 36.
16) वही
17) वही
18) वही, दिसंबर 2010, पृ. 88.
19) इक्कीसवी शती का हिंदी साहित्य : चिंतन और चुनौतियाँ - संपा. नवनाथ शिंदे, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, सं. 2015, पृ. 107.